।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ — मार्गशीर्ष
अंक आठवाँ — २४७६

कैसा जीवन व्यतीत करना चाहिए?

हे जीव! तूने आत्मा को भूलकर, देहदृष्टि रखकर अनन्त जीवन व्यतीत किये, तथापि उसके बाद भी तेरे भव–भ्रमण का दुःख तो ज्यों का त्यों बना ही रहा; किन्तु अब सत् पुरुषों की आज्ञानुसार आत्मदृष्टिपूर्वक एक जीवन तो ऐसा व्यतीत कर कि जिसके बाद कोई भव ही धारण न करना पड़े।

एक अंक
चार आना

५६

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

अनुक्रम

१- आत्मा पर का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता।

२- नवतत्त्व

ज्ञानस्वभाव को जाने बिना ज्ञेय का स्वभाव नहीं जाना जा सकता

जो जीव, शब्दों का और उसे जाननेवाली ज्ञान अवस्था को ही स्वीकार करे, वह उनकी ओर ही देखता रहता है, परन्तु अपने स्वभाव को नहीं देखता। ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान जहाँ से आता है – ऐसे अपने स्वभाव को जो स्वीकार न करे, उसने वास्तव में ज्ञान का अथवा ज्ञेय का भी यथार्थ स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि ज्ञान स्वतः से होता है, उसे न जानने से शब्दों के कारण ज्ञान माना है अर्थात् ज्ञान को स्वतन्त्र सत्‌रूप स्वीकार नहीं किया है। और शब्द, ज्ञान से पृथक् हैं –अचेजन हैं, तथापि जिसने उन्हें ज्ञान का कारण माना है, उसने शब्दों को भी स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि शब्दों का स्वभाव ज्ञान का ज्ञेय होने का है, परन्तु ज्ञान का कारण होने का उनका स्वभाव नहीं है, और ज्ञान का स्वभाव स्व-पर को स्वतः जानने का है, परन्तु पर में कुछ करने का उसका स्वभाव नहीं है; – ऐसा समझे तो ज्ञेय और ज्ञान को यथार्थ जाना कहलाता है। मेरी ज्ञानदशा अपने सामान्य ज्ञानस्वभाव के आश्रय से होती है और शब्द मेरे कारण से नहीं होता, परन्तु परमाणु के कारण से होते हैं – इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वभाव का स्वीकार करके स्व को जाननेवाला ज्ञान, पर को भी यथार्थ जानता है।

इससे उस समय भी उसे शुद्धता की ही वृद्धि होती है – इसका नाम धर्म है। ऐसा स्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान ही इस आत्मा को मुक्ति का कारण है, उस ज्ञान से ही आत्मा स्वतः भगवान परमात्मा होता है। (–भेदविज्ञानसार)

मार्गशीर्ष
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष पाँचवाँ
अंक-८

आत्मा पर का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता

प्रत्येक समय के परिणमन को ज्ञान कब जान सकता है?

[पूज्य श्री कानजीस्वामी के श्रीमुख से प्रगट हुए अन्तर के सूक्ष्म न्याय]

ण वि सक्कइ घित्तु जं ण विमोत्तु जं य जं परद्दव्व।
सी को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि॥४०६॥

(१) आत्मा ज्ञानस्वरूपी वस्तु है, उसकी प्रत्येक समय की अवस्था है। उस एक समय की अवस्था में आत्मा, पर का कुछ ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता।

आत्मा के ज्ञान में सबको एक समय में जानने की शक्ति है; आत्मा उस शक्ति का एक समय में विश्वास कर सके और एक समय में सब जाने – वैसा ज्ञान–सामर्थ्य प्रगट कर सकता है अथवा अपने ज्ञान–सामर्थ्य का अविश्वास करके पर्याय में प्रत्येक समय का विकार करता है, परन्तु एक साथ दो समय का विकार नहीं कर सकता। अपनी अवस्था में प्रत्येक समय का जो विकार होता है, उसी को नहीं पकड़ सकता तो परवस्तु को कैसे पकड़ सकेगा? प्रत्येक समय का नवीन-नवीन विकार करने से अनादि से अभी तक विकार हुआ; वह विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मैं सदैव ज्ञानस्वरूप ही हूँ – इस प्रकार अपने स्वरूप की ओर एकाग्र होकर पूर्णज्ञान होने से अपने अनादिसांत विकार का ज्ञान एक समय में कर सकता है, परन्तु दो समय का विकार एकत्रित नहीं होता। जिसने अपने ज्ञानस्वरूप का निर्णय किया, उसके तो विकार का अन्त आ जाता है, इससे उसके विकार अनादि-अनन्त नहीं परन्तु अनादिसांत है। अभव्य आदि जीवों को अनादि-अनन्त विकार है, वह भी प्रत्येक समय परिवर्तित होते-होते ही होता है। कोई जीव अपने आत्मा में दो समय का विकार एकत्रित नहीं कर सकता, परन्तु अपने ज्ञानस्वरूप की एकग्रता द्वारा अपने

अनादिसांत विकार का और अभव्य आदि परजीवों के अनादि-अनन्त विकार का एक समय में ज्ञान कर सकता है।

(२) द्रव्य प्रत्येक समय में परिणमित होता है। उस प्रत्येक समय के परिणाम को छद्मस्थ –ज्ञान जान नहीं सकता, परन्तु उसकी प्रतीति एक समय में कर सकता है। बस, प्रत्येक समय में परिणमित होनेवाला द्रव्य जिस ज्ञान की प्रतीति में आया, वह ज्ञान 'प्रत्येक समय में विकार रहित स्वभाव है' उसे जानता है। स्वभाव में ज्ञान की पूर्णता है; उसकी प्रतीति करके उसमें ज्ञान स्थिर हो तो उस ज्ञान में प्रत्येक समय में सबकुछ ज्ञात हुए बिना न रहे। परन्तु ज्ञान में पर का किंचित् ग्रहण या त्याग नहीं है – ऐसे ज्ञानस्वभाव को पहचानना वह धर्म है।

(३) आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; उसमें ज्ञान-श्रद्धा-सुख इत्यादि अनन्त गुण हैं; वह ज्ञानस्वभावी आत्मा किसी परवस्तु का ग्रहण या त्याग नहीं करता।

आत्मा का ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसकी वर्तमान दशा जानने का कार्य करती है। पदार्थों में प्रत्येक समय की जो अवस्था है, उसे छद्मस्थ जीव अपने ज्ञान में नहीं पकड़ सकता। ज्ञान के उपयोग का कार्य रागमय होने से वह परवस्तु की वर्तमान अवस्था को भी पकड़ (जान) नहीं सकता। लकड़ी इत्यादि जो कुछ ज्ञात होता है, वह असंख्य समय का ऐसा का ऐसा स्थूल परिणमन ज्ञात होता है, उसका एक-एक समय का सूक्ष्म परिणमन ज्ञात नहीं होता। परवस्तु की एक समय की अवस्था को आत्मा स्थूल उपयोग द्वारा जान भी नहीं सकता; तब फिर उसका ग्रहण या त्याग कैसे करेगा?

आत्मा स्वतः ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, सुख इत्यादि अनन्त गुणों का पिण्ड है, और उस प्रत्येक गुण की एक-एक समय की अवस्था है; उसमें ज्ञान-दर्शन की अवस्था उपयोगरूप हैं, अन्य गुणों में उपयोग नहीं है, परन्तु प्रत्येक समय का परिणमन है। वह ज्ञान-उपयोग अपने एक-एक समय के अस्तित्व को भी नहीं पकड़ सकता; और जो राग होता है, वह प्रत्येक समय में बदलता है; उस एक-एक समय की रागपर्याय को भी ज्ञान का उपयोग पकड़ नहीं सकता–जान नहीं सकता; तो वह ज्ञान, परद्रव्य की एक-एक समय की अवस्था को पकड़ ले – ऐसा तीन काल में नहीं बनता।

अज्ञानी मानता है कि 'मैंने यह लकड़ी हाथ में ली' परन्तु 'मैंने यह लकड़ी हाथ में ली'– इतना विचार किया, उतने समय में तो लकड़ी में असंख्य पर्यायें पलट गई हैं। लकड़ी के परमाणुओं के अनन्त गुणों को अथवा उसकी एक-एक समय की अवस्था को पृथक् करके ज्ञान का वर्तमान कार्य नहीं जान सकता। हे अज्ञानी! तेरे ज्ञान का वर्तमान कार्य सामनेवाले पदार्थों की

एक-एक समय की अवस्था को पृथक् करके नहीं जान सकता; तो फिर तेरा ज्ञान उन पदार्थों में कुछ करे या उन्हें ग्रहण करे – ऐसा कैसे हो सकता है?

(४) आत्मा, राग द्वारा तो परपदार्थ की वर्तमान अवस्था को नहीं पकड़ सकता; परन्तु ज्ञान द्वारा भी उसे नहीं पकड़ सकता; रागसहित होने से ज्ञान का उपयोग अत्यन्त स्थूल है, इससे वह पदार्थों के स्थूल परिणमन को ही पकड़ सकता है। स्वतः में भी श्रद्धा आदि गुण एक-एक समय में कार्य करते हैं; परन्तु उन श्रद्धा आदि की एक-एक समय की अवस्था को भी ज्ञान का उपयोग जान नहीं सकता। ज्ञान-दर्शन उपयोग एक-एक समय कार्य करता है, परन्तु वह स्वतः अपने एक-एक समय के परिणमन को नहीं पकड़ सकता; तब फिर आत्मा, पर को पकड़े – ऐसा त्रिकाल में नहीं हो सकता।

अज्ञानी मानता है कि 'मैंने परद्रव्य को पकड़ा' परन्तु क्या परद्रव्य उसके हाथ में आ गया है? अथवा परद्रव्य का कोई गुण उसके हाथ में आ गया? या परद्रव्य की कोई पर्याय उसके हाथ में आ गई? परद्रव्य प्रति समय बदलकर अवस्था धारण करता है; उसके स्पर्शादि अनन्त गुणों की एक-एक समय की अवस्थाएँ हैं; वह ज्ञान के ख्याल में नहीं आता। जब बहुत समय तक ऐसे का ऐसा स्थूल परिणमन रहता है, तब ही वह ज्ञान के ख्याल में आता है। ज्ञान में परद्रव्य की एक अवस्था को लक्ष्य में लेता है, वहाँ तक तो उस द्रव्य में असंख्य पर्यायें पलट जाती हैं, तो ज्ञान उसे किस प्रकार पकड़ेगा? पदार्थ के स्थूलरूप का जो ख्याल आता है, वह यथार्थ कब कहलाता है? अज्ञानी का उपयोग तो परपदार्थ में एकत्वरूप से कार्य करना है, इससे उसे तो यथार्थ ज्ञान होता नहीं है। ज्ञानी के स्वभाव की श्रद्धा और रुचि के बल से राग का अभाव होकर, ज्ञान का आत्म-स्वभाव में एकत्व होने से द्रव्य-गुण-पर्याय अभेद होकर कार्य करते हैं; इससे उसका ज्ञान यथार्थ जानता है।

(५) आत्मा में अनन्त गुण हैं; उनमें से ज्ञान और दर्शनगुण ही उपयोगरूप हैं, दूसरे श्रद्धा, चारित्रादि गुणों में उपयोग नहीं होता। ज्ञान-दर्शनगुणों का स्वभाव ऐसा है कि उनका उपयोग असंख्य समय तक लम्बाता है। उपयोग का परिणमन तो प्रत्येक समय का ही है, परन्तु उसमें असंख्य समय तक उसका कार्य लंबाता है। श्रद्धा–चारित्रादि गुणों में वैसा नहीं होता, उनका कार्य एक-एक समय का ही है, एक समय के पश्चात् दूसरे समय में उनका कार्य नहीं लंबाते। छद्मस्थ जीव के ज्ञान का उपयोग असंख्य समय का है, यदि वह उपयोग परलक्ष्य से जाने तो अपने एक-एक समय को नहीं पकड़ सकेगा। किन्तु यदि वह उपयोग अपने स्वभाव में एकाग्र हो तो ज्ञान की

शुद्धता बढ़ते-बढ़ते एक-एक समय को भी पकड़ सके और स्वतः प्रत्येक समय में कार्य करे – ऐसा सामर्थ्य प्रगट हो अर्थात् केवलज्ञान हो जाये। परन्तु अपने स्वभाव क लक्ष्य करके एकाग्र हुए बिना ज्ञान का उपयोग एक-एक समय की अवस्था को नहीं जा सकेगा और वह उपयोग स्वयं एक-एक समय की अवस्था को नहीं जान सकेगा और वह उपयोग स्वयं एक-एक समय में जानने का कार्य नहीं कर सकेगा। इस प्रकार आत्मा प्रत्येक समय की अपनी अवस्था को भी नहीं पकड़ सकता और परवस्तु की एक समय की वर्तमानदशा को भी नहीं जान सकता। पर से भिन्न रहकर भी ज्ञान में पर को नहीं जान सकता तो वह राग करके या पर के साथ एकमेक होकर पर को पकड़ ले–ऐसा तो हो ही नहीं सकता। अज्ञानी जीव अपने उपयोग को आत्मोन्मुख करके आत्मस्वभाव को श्रद्धा में न लेकर, परवस्तु को ग्रहण करने की रुचि से अनन्त परपदार्थों के कर्तृत्व का अभिमान करता है और उससे संसार में परिभ्रमण करता है। साधक ज्ञानी को जानना तो स्थूल कार्य है, वह एक-एक समय को नहीं जान सकता, तथापि श्रद्धा में तो, प्रत्येक समय को पूर्ण जाने – ऐसे आत्मस्वभाव को पकड़ा है। श्रद्धागुण के प्रत्येक समय के परिणमन को उपयोग नहीं पकड़ सकता, परन्तु श्रद्धा तो प्रत्येक समय में पूर्ण आत्मस्वभाव की प्रतीति का कार्य करती ही है। उन श्रद्धादि के एक-एक समय के परिणमन को पकड़ना चाहे तो पर्याय के लक्ष्य से वह नहीं पकड़ा जा सकता; परन्तु जहाँ एक समय को लक्ष्य में लेने जाता है, वहाँ उपयोग एकदम सूक्ष्म होकर स्वभावोन्मुख होता है और स्वभाव के लक्ष्य से द्रव्य–पर्याय की एकता होने से ज्ञान के उपयोग की ऐसी निर्मलता होती है कि प्रत्येक समय में स्व को परिपूर्ण जानता है, और स्व को जानने से पर के प्रत्येक समय को भी वह ज्ञान जानता है; किन्तु वह ज्ञान किसी वस्तु के ग्रहण करता या छोड़ता है–ऐसा कभी नहीं होता।

(६) स्वभावोन्मुख होकर ज्ञान पूर्ण परिणमित हुआ, तब उस ज्ञान के साथ की श्रद्धा को परमावगाढ़ श्रद्धा कहा गया; अर्थात् ज्ञान के साथ श्रद्धा को निर्मलता में भी वृद्धि हुई है। जहाँ तक ज्ञानादि स्वभाव में पूर्णतया एकत्व न हो, वहाँ तक श्रद्धादि भी अपूर्ण हैं, इससे उसे परमावगाढ़ श्रद्धा नहीं कहा जाता। यह बात सूक्ष्म है।

(७) (१) मैं रागादि करके पर को ग्रहण करूँ या छोड़ूँ–ऐसा अज्ञानी मानता है; वह अज्ञानी, राग की पकड़वाला है, उसने विपरीत श्रद्धा से राग को पकड़ रखा है, परन्तु किसी भी पर वस्तु का ग्रहण तो वह कर ही नहीं सकता। (२) ज्ञानियों ने द्रव्य-पर्याय की एकता प्रगट करके सम्पूर्ण आत्मद्रव्य को श्रद्धा-ज्ञान में पकड़ा है, परन्तु अभी उनका ज्ञान एक समय को नहीं पकड़ सकता। वे ज्ञानी जीव भी परवस्तु को तो तीनकाल में ग्रहण नहीं कर सकते; और (३) केवली

भगवान को आत्मस्वभाव में पूर्ण एकता द्वारा केवलज्ञान प्रगट हुआ है, और वे एक-एक समय में सबकुछ जानते हैं, एक समय को भी जानते हैं, परन्तु उनको भी किसी पर का ग्रहण तो त्रिकाल में नहीं है। इस प्रकार वस्तु का स्वभाव पर के ग्रहण-त्याग रहित है; अज्ञानी विकार करके या ज्ञानी अपने ज्ञानस्वभाव में रहकर भी पर का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकते।

(८) जीव, परवस्तु के ग्रहण-त्याग अभिमान छोड़कर चैतन्यस्वभाव की रुचि करे, वहाँ भी उस रुचि की प्रत्येक समय की अवस्था को उसके ज्ञान का व्यापार पकड़ नहीं सकता; परन्तु त्रैकालिक स्वभाव में उस ज्ञान की एकता करके उसकी सामान्य रीति से प्रतीति होती है। यदि बिलकुल एक समय की रुचि को ज्ञान पकड़ तो वह ज्ञान सर्वथा रागरहित, एक समय के उपयोगवाला होता है। एक-एक समय को जाने, वैसा ज्ञान कब प्रगट होता है? यदि एक-एक समय के सन्मुख ही लक्ष्य करे, तब तो राग होगा और रागवाला ज्ञान एक-एक समय को नहीं पकड़ सकेगा, इसलिए एक-एक समय के भेद का लक्ष्य छोड़कर सम्पूर्ण द्रव्य में उपयोग की अखण्डता हुए बिना, ज्ञान में एक समय ज्ञात हो—ऐसी सामर्थ्य प्रगट नहीं होगा। इसमें ऐसा निश्चित हुआ कि प्रत्येक समय का ज्ञान प्रगट करने के लिए भी आत्मस्वभाव में ही उपयोग की अखण्डता होना चाहिए। इस प्रकार स्वभावोन्मुख होने की ही इसमें बात है।

(९) 'मैंने पुस्तक ली, मैंने लकड़ी ली'– ऐसी अज्ञानी मानता है, अर्थात् ज्ञान ने परद्रव्य का ग्रहण किया– ऐसा वह मानता है, परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! ज्ञान ने परद्रव्य को किस प्रकार लिया? क्या परद्रव्य, उसका कोई गुण या उसकी कोई अवस्था, ज्ञान में प्रविष्ट हो गई है? ऐसा तो होता ही नहीं। पुनःश्च, वस्तु में उसके तीनों काल की अवस्थाएँ वर्तमान में प्रगट प्रवर्तमान तो नहीं है, मात्र एक ही समय की प्रगट अवस्था वर्त रही है; उस एक-एक समय की वर्तमान वर्तती अवस्था को तो तेरा ज्ञान जानता भी नहीं है। और उस ओर का राग तथा ज्ञान भी प्रतिसमय परिवर्तित होता है, उसे भी तू नहीं जान सकता। अपने वर्तमान ज्ञान को, राग को अथवा वर्तमान पर के जाने बिना, पर को ग्रहण करना-मानता है – वह मिथ्यात्व है। अभी वस्तु के एक समय को भी तेरा ज्ञान नहीं पकड़ सकता तो उस त्रिकाली वस्तु को तू किस प्रकार पकड़ेगा? मात्र अज्ञानभाव से ही पर का ग्रहण-त्याग माना है। पर के ग्रहण-त्याग की मान्यता को छोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में एकाग्र हो, तब ज्ञान में स्वद्रव्य को लिया अर्थात् आत्मा का ग्रहण किया; उस ज्ञान में परद्रव्य भी ज्ञात होते हैं। परन्तु ज्ञान अपने स्वभावोन्मुख हुए बिना परद्रव्य को यथार्थ जाने – ऐसा सामर्थ्य उसमें प्रगट नहीं होता; और परद्रव्य का किंचित् भी ग्रहण करे– ऐसा सामर्थ्य तो तीनकाल में किसी जीव में नहीं है।

(१०) जिस प्रकार ज्ञान, परद्रव्य को किंचित् ग्रहण नहीं करता, उसी प्रकार उसे किंचित् छोड़ता भी नहीं है। परद्रव्य में ज्ञान का कुछ भी कार्य नहीं है। वास्तव में राग भी ज्ञान से परद्रव्य है, इससे ज्ञान, राग को नहीं छोड़ता। ज्ञानस्वभाव ने राग को कभी ग्रहण नहीं किया और उसे कभी छोड़ता भी नहीं है; यदि राग का अपने में ग्रहण किया, तभी तो उसे छोड़ेगा न? ज्ञान अपने स्वभाव में एकाग्र होने से वह राग को नहीं छोड़ता। यहाँ द्रव्यदृष्टि बतलाकर पर्यायदृष्टि को ही निकाल दिया है। परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा करके ज्ञान उसमें एकाग्र हुआ कि राग अपने आप ही छूट जाता है। ज्ञानस्वभाव में स्थिर हुआ, उस समय वास्तव में राग होता ही नहीं तो वह छोड़ेगा किसे? इस प्रकार स्वभाव में एकाग्र हुआ ज्ञान, राग को भी नहीं छोड़ता तो फिर आत्मा, शरीर को छोड़े, बाहर छोड़े, वस्त्र-धन आदि को छोड़े—यह बात कहाँ रही? ज्ञान से या राग से भी पर का त्याग करना वस्तु स्वभाव में नहीं है।

ज्ञानमूर्ति आत्मा का वर्तमान असंख्य समय का रागवाला उपयोग है; श्रद्धा इत्यादि गुणों का कार्य एक-एक समय का होने पर भी ज्ञान का उपयोग उसे नहीं जान सकता। वह उपयोग स्वभावोन्मुख होने से ज्ञान की निर्मलदशा प्रति-समय बढ़ती जाती है और एक-एक पर्याय को पूर्णतया पकड़ लें —ऐसा निर्मल उपयोग प्रगट होता है। एक पर्याय को पूर्ण पकड़ने से केवलज्ञान हो जाता है, परन्तु पर्याय के लक्ष्य से पर्याय पूर्णतया पकड़ में नहीं आती, अभेद द्रव्यस्वभाव में ढ़लने से, प्रत्येक पर्याय को जाने— ऐसा केवलज्ञान प्रगट होता है। जहाँ स्वभाव में एकता करके ज्ञान किया, वहाँ ज्ञान, आत्मा को ग्रहण करे — ऐसा भेद भी नहीं है।

(११) अनादिकाल से एक समयमात्र भी जीव ने अपने अन्तर में आत्मा की रुचि से विचार नहीं किया। अपना ज्ञानस्वरूप क्या है—उसका भान नहीं है, इससे पर में ग्रहण-त्याग करना मानता है, और इससे संसार में परिभ्रमण करता है। हे भाई! तेरे वर्तमान ज्ञान में पर की एक समय की वर्तमान अवस्था को जानने की भी शक्ति नहीं है; तब फिर आहारादि परद्रव्यों का ग्रहण करने की या छोड़ने की बात कहाँ से लाया? आहार का ग्रहण या त्याग तेरे द्रव्य में नहीं है, गुण में नहीं है, पर्याय में भी नहीं है और राग करके भी तू आहार का तो ग्रहण या त्यागकर ही नहीं सकता। आहार तो अनन्त परमाणुओं का स्थूल स्कन्ध है, और तेरे ख्याल में उसका स्थूल परिणमन आता है। आहार का ग्रास थाली में से मुँह तक आया, उतने समय में तो उसके अनन्त गुणों की असंख्य पर्यायें बदल गई हैं; उस सूक्ष्म परिणमन को तो तेरा ज्ञान जानता ही नहीं, तो उसमें तू क्या कर सकता है?

(१२) आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त श्रद्धा–चारित्रादि कोई गुण जानने का कार्य नहीं कर सकते। स्वभाव की रुचि हुई हो, उसे ज्ञान ही जानता है; रुचि स्वयं अपने को या पर को नहीं जानती। आत्मा के सभी गुण तो एक-एक समय में परिणमित होते हैं, परन्तु उनमें दर्शन और ज्ञान ही ऐसे हैं कि जिनका उपयोग छद्मस्थ के असंख्य समय तक लंबाता है। श्रद्धा आदि पर्यायों का कार्य एक-एक समय में ही होता है, वह एक पर्याय के बाद दूसरी पर्याय में नहीं लंबात। ज्ञान का कार्य परिपूर्ण हो, तब तो वह प्रत्येक समय में हीं जानने का कार्य करता है, परन्तु अपूर्ण ज्ञान हो वह असंख्य समय के उपयोगवाला है; रागसहित हों, तब भी श्रद्धा इत्यादि तो प्रत्येक समय में कार्य करते हैं, उनका कार्य लंबाता नहीं है। जब ज्ञान शुद्धनय के बोध अनुसार आत्मा को जानकर स्वभावोन्मुख होता है, तब उसके साथ सम्यक् श्रद्धा होती है, वह सम्यक्श्रद्धा स्वतः एक समय में पूर्ण आत्मा को प्रतीति में लेने का कार्य करती है, परन्तु ज्ञान उस श्रद्धा को असंख्य समय में जानता है। श्रद्धा एक समय की होने पर भी ज्ञान उसे एक समय में नहीं पकड़ सकता। ज्ञान का उपयोग स्वभावोन्मुख होने से राग और ज्ञान की एकत्वबुद्धि दूर होकर द्रव्य-गुण के साथ एकत्व होता है और मिथ्यात्व सहज ही दूर हो जाता है। वास्तव में ज्ञान, मिथ्यात्व को छोड़े–ऐसा कहना भी उपचार है। और आत्मा किसी परवस्तु को नष्ट-भ्रष्ट करे या निकट–दूर करे, यह बात तीनकाल में नहीं होती। अज्ञानी जीव, स्वभाव की ओर के ज्ञान से च्युत होकर राग और निमित्त में ज्ञान की एकता मानकर स्थूलबुद्धि से स्थूल पदार्थों को पकड़ना या छोड़ना मानता है; परन्तु अन्तरङ्ग में सूक्ष्म आत्मस्वभाव की ओर वह अपने ज्ञान के उपयोग को नहीं लगाता, इससे उसे ऐसा ज्ञान प्रगट नहीं होता जो प्रत्येक समय को जान ले; और ऐसे ज्ञान–सामर्थ्य की प्रतीति भी नहीं होती।

ज्ञानी को अपने पूर्ण ज्ञान–सामर्थ्य का विश्वास है और ज्ञान, स्वभावोन्मुख हुआ है, तथापि प्रत्येक समय की अवस्था का व्यापार जिस समय प्रवर्तमान होता है, उस समय उसका ख्याल नहीं आता; परन्तु असंख्य समय का स्थूल परिणमन ख्याल में आता है। इस प्रकार आराधक जीव भी प्रत्येक समय के परिणाम को नहीं जान सकता, तो फिर पर को छोड़े या ग्रहण करे–ऐसा तो स्वभाव ही नहीं है, और विभाव से भी वैसा नहीं बनता।

केवली भगवान एक-एक समय के परिणमन को भी जानते हैं, परन्तु उनका तो पर के सम्मुख लक्ष्य नहीं है और पर के ग्रहण–त्याग का विकल्प भी नहीं है; इससे उनके भी पर का ग्रहण–त्याग नहीं है। साधक जीव एक-एक समय के परिणाम को पकड़ नहीं सकता; जिस समय जो परिणाम हो, उसी समय उसे पकड़ नहीं सकता; तब फिर उसके परवस्तु का ग्रहण-त्याग कहाँ से होगा?

(१३) जीव को अपूर्णदशा में राग होता है, तथापि उस राग के कारण पर के ग्रहण-त्याग की क्रिया नहीं कर सकता; और वह रागवाला ज्ञान, पर की वर्तमान वर्तती अवस्था को या अपनी श्रद्धा इत्यादि की वर्तमान अवस्था को नहीं पकड़ सकता। शान्ति, श्रद्धा, पुरुषार्थ इत्यादि गुणों की वर्तमान दशा शुद्ध है या नहीं – वह ज्ञान असंख्य समय में जानता है। ज्ञान का स्वभाव एक समय में जानने का है और श्रद्धादि भी प्रति समय परिणमित होते हैं, परन्तु रागवाला उपयोग एक समय में नहीं जानता और एक समय को पकड़ नहीं सकता। ऐसा आत्मा का ज्ञानस्वभाव किसी पर वस्तु को पकड़े या छोड़े – यह बात द्रव्य में, गुण में या पर्याय में नहीं है।

(१४) अहो! साधक जीव का स्वभाव में अभेद हुआ ज्ञान भी अपनी प्रत्येक समय की पर्याय को नहीं पकड़ता, तब फिर वह ज्ञान, राग को वा पर को पकड़े – ऐसा कहनेवाला तो आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं जानता और वह वीतराग के शासन को, केवली भगवान को, सन्त-मुनियों को या उनकी वाणी को भी नहीं जानता। यह बात सम्यग्दर्शन की है। आत्मा का ज्ञान–स्वभाव जैसा है, उसे वैसा यथावत् जाने तो सम्यग्दर्शन हो। जिस प्रकार लोकव्यवहार में कहा जाता है कि –'अँगुली पर पर्वत को उठा लिया' – उसी प्रकार यहाँ ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण सत् को तोलने की -मापने की बात है। एक समय की श्रद्धा में त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की प्रतीति करने की यह बात है। इसके लिए आत्मा की रुचि और अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। चैतन्यस्वभाव जैसा है, वैसा ही ज्ञान के माप में आये बिना धर्म नहीं होता।

(१५) अज्ञानी, पर को लेना और छोड़ना मानता है, वह मिथ्यात्व है। वह जीव, ज्ञानस्वभाव को चूककर राग-द्वेष का कर्ता होता है, परन्तु पर का ग्रहण-त्याग तो कर ही नहीं सकता। राग के समय पर को जानने का भी सामर्थ्य ज्ञान में नहीं है, तब फिर परवस्तु का ग्रहण या त्याग कहाँ से करेगा? पर के ग्रहण-त्याग रहित ज्ञानस्वभाव का भान होने के पश्चात्, चारित्र की अस्थिरता के दोष से जो रागादि होते हैं, उनसे भी पर का ग्रहण या त्याग आत्मा कर ही नहीं सकता।

आत्मा ज्ञानस्वभाव है; वह प्रायोगिक गुण से या वैस्रासिक गुण से भी पर का कुछ ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। अर्थात् आत्मा, रागादि विकाररूप परिणमित हो या ज्ञानस्वभावरूप परिणमित हो परन्तु पर का तो कुछ ग्रहण – त्याग वह कर ही नहीं सकता।

(१६) जिसे आत्मा के ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है – ऐसा अज्ञानी, पर का कुछ करने से या शारीरिक बल से आत्मा का बड़प्पन मानते हैं। ऐसी एक बात आती है कि–''महावीर

स्वामी के जन्माभिषेक के समय इन्द्र को ऐसी शंका हुई कि 'भगवान का कोमल शरीर, पानी की धारा को कैसे सहन कर सकेगा? तब भगवान ने इन्द्र की वह शंका मिटाने के लिए अपने पाँव के अँगूठे से मेरुपर्वत को डगमगा दिया;''– देखो! यह दोनों बातें बिलकुल मिथ्या हैं। प्रथम तो इन्द्र, सम्यग्दृष्टि है, उसे भगवान के बल की शंका नहीं हो सकती, और भगवान अँगूठे को दबाकर मेरुपर्वत नहीं हिलाते। मेरुपर्वत तो शाश्वत् स्थिर है, वह कभी डिगते नहीं। जिसने आत्मा की दृष्टि से च्युत होकर देहदृष्टि की है, उसका यह कथन है। वे चैतन्य बल के माहात्म्य से च्युत हुए हैं, इसलिए शरीर–बल की महत्ता का वर्णन कर रहे हैं; उसमें भी भूल है। तीर्थंकरदेव बालपन से ही सम्यग्दृष्टि होते हैं।

(१७) यहाँ पर का ग्रहण या त्याग करने की बात नहीं है; परन्तु पर की अवस्था को जानना भी स्वभाव की एकाग्रता के बिना नहीं होता। जो अवस्था, स्वभावोन्मुख नहीं होती, वह एक-एक समय को नहीं जान सकती। स्वभाव में एकाग्र होते-होते, जो एक समय की वर्तमान पर्याय वर्तती है, उसे ज्ञेय करने जाये तो ज्ञान का उपयोग सूक्ष्म होकर स्वभावोन्मुख होता है और स्वभाव की एकाग्रता से केवलज्ञान प्रगट होता है, वह केवलज्ञान, त्रिकाली द्रव्य-गुण सहित प्रत्येक समय की अवस्था को भी जानता है।

आत्मा में आनन्द गुण त्रिकाल है; परन्तु उसका परिणमन एक-एक समय का है। एक समय में त्रिकाली आनन्द नहीं आता; आनन्द का उपभोग समय-समय का है। साधक को प्रत्येक समय के आनन्द का उपभोग है, परन्तु उस एक-एक समय के आनन्द को उसका ज्ञान नहीं पकड़ सकता। समय-समय का वेदन पकड़ने जाने से, समय-समय की वह अवस्था जिसमें से आती है –ऐसे द्रव्य की ओर ज्ञान ढ़ल जाता है; और उस द्रव्य के आश्रय से ऐसा ज्ञान प्रगट होता है, कि एक-एक समय में द्रव्य-गुण-पर्याय सबको जानता है। वह ज्ञान तीनकाल के आनन्द को एक समय में जान लेता है, परन्तु एक समय में तीनकाल का आनन्द अनुभव में नहीं आता। अपने आनन्द की दो समय की अवस्था को भी ज्ञान एकत्रित नहीं कर सकता, तब फिर आत्मा, पर को ग्रहण करे या छोड़े – यह बात तो कहाँ रही?

(१५) अज्ञानी ऐसा मानता है कि 'मैंने हाथ में प्याज ली।' अब, विचार करो कि मैंने अर्थात् किसने? हाथ अर्थात् क्या? स्वतः तो ज्ञानस्वरूप है, हाथ तो परमाणुओं का पिण्ड है, और प्याज भी परमाणुओं का पिण्ड है। उस प्याज में असंख्यात औदारिकशरीर हैं, उस प्रत्येक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं, एक जीव में अनन्त गुण हैं और उस प्रत्येक गुण में अनन्त पर्यायें

हैं। तो क्या इसमें से कोई द्रव्य–गुण या पर्याय इस हाथ के परमाणु में आ गया है? या हाथ के स्थान में रहनेवाले आत्मा के प्रदेश में वह आ गया है? या राग में अथवा ज्ञान में आ गया है? ऐसा तो नहीं होता, तब फिर आत्मा ने प्याज को किस प्रकार लिया? हाथ के ऊँचे-नीचे होने की क्रिया भी आत्मा नहीं करता। अज्ञानी जीव अपने चैतन्य के अस्तित्व को चूक गया है, वह राग के या ज्ञान के एक-एक समय के कार्य को भी नहीं जानता, और पर में भी प्रत्येक समय में उसका स्वतन्त्र परिणमन होता है, उसे नहीं जानता, तथापि पर को ग्रहण करना मानता है, वह स्वतः अपने अज्ञानभाव में पकड़ा जाता है।

छद्मस्थ ज्ञानी या अज्ञानी कोई जीव एक समय में को पकड़ नहीं सकता, जान नहीं सकता; परन्तु अज्ञानी जीव, परवस्तु का ग्रहण–त्याग मैं करता हूँ – ऐसा मानकर अज्ञान में फँस जाता है, पर के अहंकार से उसका ज्ञान हीन होता जाता है और ज्ञानी तो अपने स्वभाव में ही ज्ञान की एकता करके, उस स्वभाव के आश्रय से प्रति समय ज्ञान की शुद्धता में वृद्धि करते हैं; और इस प्रकार ज्ञान की शुद्धता बढ़ते-बढ़ते एक समय का भी जान सके, ऐसा निर्मल ज्ञान-केवलज्ञान उनके प्रगट होता है। आत्मा का ऐसा ज्ञानस्वभाव है। इसके अतिरिक्त कोई राग या पर का कर्तृत्व आत्मा का स्वभाव नहीं है।

(१९) जहाँ आत्मा का ऐसा ज्ञानस्वभाव रुचि में आया, वहाँ समस्त गुणों की अवस्था निर्मल होती जाती है अर्थात् सर्वविशुद्धि होती जाती है। सभी अवस्थाएँ, एक की अपेक्षा दूसरी अधिक निर्मल होती जाती है; इस प्रकार स्वभाव की रुचि के बल से सर्व अवस्थाओं में निर्मलता बढ़ते-बढ़ते पूर्णदशा होती है, वह ज्ञान तीनकाल और तीनलोक का एक समय में विकाररहित जानता है, उसमें किंचित् आकुलता, अपूर्णता नहीं है और जो पूर्णता हुई है, वह नित्य स्थायी है, पुनः वैसी पूर्णता नहीं करनी पड़ती, परन्तु सदैव पूरा-पूरा परिणमन होता रहता है। ऐसे स्वभावरूप परिणमन से भी आत्मा पर का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता।

(२०) एक रजकण की अवस्था का ग्रहण या त्याग तो जीव कर ही नहीं सकता परन्तु एक अवस्था को जानना हो तो वह भी, केवलज्ञानरूप अपना स्वभाव हो जाये, तभी ज्ञात होती है; पर के लक्ष्य से ज्ञात नहीं होती। इस प्रकार एक अवस्था का ज्ञान करने के लिए भी अपने अखण्डस्वभाव की ओर ढ़लना ही आता है। परसम्मुख देखने से राग होता है, राग के समय द्रव्य और ज्ञान अवस्था में भेद होता है, इसलिए ज्ञान की पूर्ण दशा नहीं होती और ज्ञान द्रव्य-गुण को या एक पर्याय को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। परलक्ष्य छोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में ढ़लने से द्रव्य

और पर्याय की एकता होती है और राग दूर होकर पूर्णज्ञान प्रगट होता है, वह ज्ञान एक समय में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को प्रत्यक्ष जानता है और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय भी उसमें ज्ञात हो जाते हैं। ऐसा ही अपना ज्ञानस्वभाव है; उसकी श्रद्धा से ही धर्म होता है। श्रद्धा के बल से चैतन्यस्वभाव में एकता होने पर, ज्ञान की अवस्था सहज ही निर्मल होती जाती है और राग दूर होता रहता है – उसका वर्णन इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में किया है।

(२१) हे जीव! श्रद्धा की रुचि में सम्पूर्ण चैतन्यस्वभाव को ले। तेरे ज्ञान की दशा इतनी निर्बल है कि वह ज्ञान एक समय को नहीं पकड़ सकता। एक समय में सम्पूर्ण तत्त्व नहीं आता, और उस एक समय की अवस्था को ज्ञान पकड़ भी नहीं सकता। इसलिए अखण्ड चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करके उस स्वभाव में अपने ज्ञान उपयोग को एकाग्र कर, तो उस स्वभाव के आधार से ज्ञान की निर्मलता होते-होते, एक समय में सब कुछ प्रत्यक्ष जाने, ऐसा ज्ञान प्रगट हो। अन्तर में अपने स्वभाव को न देखकर बाह्य में परसम्मुख देखता रहे, वह जीव बर्हिदृष्टि है, उसके ज्ञान की निर्मलता नहीं होती।

(२२) यदि ज्ञान पूर्ण निर्मल न हो तो वह स्व और पर को पूर्णतया नहीं जानता और उसमें राग हुए बिना नहीं रहता। ज्ञानादि समस्त गुणों की अवस्था का अस्तित्व तो एक ही समय का है, परन्तु ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि उसका कार्य लंबाता है। ज्ञान की अवस्था तो एक-एक समय की ही है परन्तु उसके उपयोग का कार्य असंख्य समय तक चालू रहे, ऐसी उसकी योग्यता है। जिस ज्ञान का उपयोग राग-सहित है, उसे एक समय में सम्पूर्ण वस्तु लक्ष्य में नहीं आती। रागसहित उपयोग एक-एक समय में जानने का कार्य नहीं कर सकता। ज्ञान की अवस्था का अस्तित्व एक समय का है– ज्ञान एक-एक समय में परिणमित होता है, तथापि यदि उस ज्ञान का उपयोग प्रत्येक समय में जानने का कार्य न करे तो वह ज्ञान भेदवाला है, वह ज्ञान, स्वभाव में पूर्णतया अभेद होकर कार्य नहीं करता। पर्यायरूप ज्ञान का अस्तित्व एक समय का है, परन्तु ज्ञान का उपयोग असंख्य समय का है। यदि वह ज्ञान, स्वभावोन्मुख हो तो साधक होकर मलिनता और निर्मलता का विवेक कर सकता है, परन्तु एक-एक समय की मलिनता-निर्मलता को नहीं जान सकता। उसी प्रकार ज्ञानादि गुणों में प्रत्येक समय का परिणमन है – ऐसा समान्यरूप से ज्ञान के ख्याल में आये, परन्तु प्रत्येक समय को वह ज्ञान नहीं पकड़ सकता। तब फिर ज्ञान आहारादि परवस्तुओं को या राग का तो तीनकाल में भी ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता।

(२३) आहारादि अमुक विधि से लेना चाहिए और अमुक वस्तुओं का त्याग करना

चाहिए–ऐसे पर के ग्रहण-त्याग के कथन शास्त्रों में आते हैं; वे सब व्यवहार कथन हैं। अर्थात् मात्र बोलने के लिए हैं। शास्त्रों के वे शब्द तो जड़ हैं; उनमें कहीं आत्मा नहीं है। उस भाषा में ज्ञान का तात्पर्य क्या था, उसे समझे तो वह केवली भगवान को, ज्ञानियों को और शास्त्रों को समझा कहा जाये; मात्र भाषा के शब्दों को ही पकड़े तो उसे ज्ञानी के कथन का आशय समझ में नहीं आयेगा। अनन्त गुणों के पिण्ड आत्मा को ग्रहण न करे और मात्र शब्दों को पकड़े तो उसने स्वभाव को छोड़कर पर का ग्रहण किया है, स्वभाव के ज्ञान बिना पर का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। चरणानुयोग में निमित्त की अपेक्षा से परवस्तु को ग्रहण करने और त्यागने के कथन आते हैं, परन्तु 'आत्मा, परवस्तु में किंचित् ग्रहण–त्याग नहीं कर सकता'– ऐसा वस्तु स्वभाव है, उसे लक्ष्य में रखकर उसका आशय समझना चाहिए।

(२४) आत्मा के ज्ञानस्वभाव की रुचि से स्वभाव में अभेदता हुई, इससे सम्यग्ज्ञान हुआ–साधकदशा हुई–धर्मी हुआ, परन्तु अभी जब तक स्थिरता से स्वभाव में अभेदता न हो, वहाँ तक राग होता है और ज्ञान एक समय को नहीं जानता। बाह्य में प्रभु के सम्मुख चावल आदि चढ़ाने की क्रिया तो कोई आत्मा स्वभाव से या विकार से कर ही नहीं सकता। मैं पर का करूँ– ऐसी विपरीत मान्यता से या राग-द्वेष से भी परवस्तु का तो जीव कुछ कर ही नहीं सकता। अज्ञानी जीव, रागादि को ही अपना स्वरूप मानता है, इससे राग से पृथक् होकर श्रद्धारूप से आत्मा में अभेद नहीं होता, और ज्ञानी ने श्रद्धा से तो आत्मस्वभाव में अभेदत्व प्रगट किया है, परन्तु अभी स्थिरता से आत्मा में अभदेत्व नहीं हुआ है, वहाँ तक उसे राग होता है; परन्तु अज्ञानी या ज्ञानी, राग के सामर्थ्य से भी पर में कुछ भी ग्रहण-त्याग करने के लिए समर्थ नहीं हैं। आत्मा द्वारा पर का ग्रहण-त्याग होना अशक्य है। ऐसे आत्मस्वभाव को जाने तो पर में से पीछे हटकर ज्ञान अपने स्वभाव में स्थिर हो, और प्रति समय अनन्तगुनी विशुद्धता बढ़ती जाये, राग दूर होता जाये और निमित्तरूप कर्म खिरते जायें;– यही संवर–निर्जरारूप धर्म है और यही मोक्ष का मार्ग है।

---

(२५) ज्ञान, परद्रव्य को किंचित् भी ग्रहता या छोड़ता नहीं है – ऐसा कहा है; अब कहते हैं कि ज्ञान आहारक नहीं है, इसलिए ज्ञान में देह की शंका नहीं करना :–

पुनःश्च, 'परद्रव्य, ज्ञान का (अमूर्तिक आत्मद्रव्य का) आहार नहीं है, क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है; अमूर्तिक के मूर्तिक आहार नहीं होता, इसलिए ज्ञान आहारक नहीं है। इसलिए ज्ञान में देह की शंका नहीं करना।'

आत्मा का स्वभाव अमूर्तिक है, उसका ज्ञान अमूर्तिक है, उस स्वभाव में भेद करके राग हो तो वह भी अमूर्त आहार को ग्रहण नहीं करता। कर्म–नोकर्मरूप आहार, ज्ञान के नहीं है। वर्तमान ज्ञान उपयोग को त्रैकालिक स्वभाव की ओर उन्मुख करके एकाग्र होने से जो शांत उपशम रस प्रगट हो, वही आत्मा का आहार है। आत्मा के प्रयत्न से कर्म या आहार का ग्रहण–त्याग नहीं होता। त्रिकाली द्रव्य को ज्ञान में पकड़ कर उसमें एकाग्र रहने से राग छूट जाता है अर्थात् राग होता ही नहीं – ऐसा ज्ञानस्वभाव है। वास्तव में राग को छोड़ना भी आत्मा नहीं करता; आत्मा का त्रिकाली ज्ञानस्वभाव है, वह राग को करता भी नहीं और न छोड़ता ही है। यह स्वभावदृष्टि की बात है। स्वभावदृष्टि से आत्मा, राग को करता या छोड़ता नहीं है, इससे ज्ञानस्वभाव में राग का भी ग्रहण–त्याग नहीं है, तब फिर आहारादि का ग्रहण-त्याग तो कहाँ से होगा?

वास्तव में स्वभावदृष्टि से रागादि भी मूर्त हैं। शास्त्रों में भी उन्हें अवधिज्ञान के मूर्त विषयों में गिना है। अमूर्तिक चैतन्य का स्वभाव नहीं है, इसलिए वे रागादि मूर्त हैं, वे रागादि भाव, चैतन्य से विरुद्ध हैं। धर्मी को ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में ज्ञान की निर्मलता की ही वृद्धि होती जाती है, परन्तु मूर्त रागादि भावों की वृद्धि नहीं होती; इसलिए उसके राग का भी ग्रहण नहीं है, तब फिर पर की खुराक तो ज्ञानी के कहाँ से होगी? इससे आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान को आहार नहीं है, इसलिए ज्ञान के देह की शंका नहीं करना चाहिए। ज्ञान स्वस्वभावोन्मुख हुआ कि वहाँ ज्ञान के विकार नहीं है, आहार नहीं है, देह नहीं है, भव नहीं है। इसलिए आत्मा के भव की शंका नहीं करना चाहिए।

(26) इस गाथा पर श्री जयसेनाचार्यदेव की टीका में शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन्! आपने यह कहा है कि आत्मा के आहार नहीं है, परन्तु अनाहारक जीव तो सिद्धदशा में होता है अथवा चौदहवें गुणस्थान में होता है और विग्रहगति के समय होता है, इसके अतिरिक्त तो जीव को आहारक कहा है, तब यहाँ उसे अनाहारक कहा है, सिद्ध के अथवा चौदहवें गुणस्थान में तो किसी प्रकार का आहार नहीं होता, और विग्रहगति में नोकर्म का ग्रहण नहीं है, इससे उसे अनाहारक कहा है। इसके अतिरिक्त तो सभी जीवों के आहार होता है। केवली भगवान के कवलाहार तो नहीं होता परन्तु कर्मवर्गणा के ग्रहणरूप आहार तो उनके भी है; तब फिर यहाँ आत्मा को त्रिकाल अनाहारक किस प्रकार सिद्ध करते हैं? शिष्य इस प्रकार प्रश्न करता है; तब आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं कि – शास्त्र में जीव को आहारक कहा है, वह संयोग का ज्ञान कराने के लिए कहा है, मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से जीव को आहार का ग्रहण कहा गया है, परन्तु वास्तव मैं तो जीव आहार के साथ तन्मय नहीं होता, इसलिए वह आहार का ग्रहण ही नहीं

करता; शास्त्रों में निमित्त के कथन हैं। कोई जीव कर्म को अथवा भोजन को नहीं पकड़ता। स्वभावदृष्टि से सिद्ध अथवा एकेन्द्रिय किसी भी जीव के आहार का ग्रहण नहीं है; परन्तु जीव अपने चैतन्यस्वभाव को नहीं पकड़ता, इसलिए ऐसा कहा है कि वह आहार ग्रहण करता है। जीव स्वभावरूप परिणमित न हो और विकाररूप परिणमित हो, तब उसके निमित्त से कर्म-नोकर्म का ग्रहण होता है, उस संयोग का और विकार के प्रकारों का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार-शास्त्रों में आहारकादि का वर्णन आता है; परन्तु आत्मा, जड़ का ग्रहण करता है अथवा आत्मा किसी पर का ग्रहण कर सकता है – यह बात बिल्कुल मिथ्या है। अज्ञानी जीव भी कर्म का या आहार का ग्रहण नहीं करता। देव-मनुष्यादि कोई भी जीव एक परमाणुमात्र आहार को अथवा कर्म को ग्रहण नहीं करते। केवली भगवान को (तेरहवें गुणस्थान में) परमाणु आकार शरीर के साथ बंधते हैं, इससे निमित्त से उन्हें आहारक कहा जाता है, परन्तु उनके आत्मा में एक रजकण का भी ग्रहण नहीं होता। यदि अमूर्तिक आत्मा जड़-मूर्त द्रव्य का ग्रहण करे तो वह स्वतः जड़-मूर्त हो जाये– ऐसा कभी नहीं होता।

'निश्चय से तो आत्मा आहार नहीं करता परन्तु व्यवहार से आहार करता है'–ऐसा अज्ञानी मानता है; परन्तु वह बात यथार्थ नहीं है। स्वभाव से या विकार से, निश्चय से अथवा व्यवहार से, ज्ञानी अथवा अज्ञानी– कोई भी जीव आहारादि परवस्तु का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता। व्यवहार से भी आत्मा, आहार का तो ग्रहण नहीं करता परन्तु व्यवहार से आरोप करके वैसा कहा जाता है, इससे कहीं वस्तु स्वरूप वैसा नहीं हो जाता। इसलिए ज्ञानस्वरूपी आत्मा के आहार नहीं है।

(२७) भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि – ऐसा है, इसलिए ज्ञान के देह की शंका नहीं करना चाहिए। यहाँ ज्ञानस्वरूप में निःशंक होना कहा है। जो ज्ञानस्वरूप में देह की शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा का जो ज्ञानस्वभाव है, वह ज्ञान का ही उत्पादक है। आत्मा के ज्ञानस्वभाव में से शरीर उत्पन्न नहीं होता, ज्ञान से शरीर स्थिर नहीं होता, ज्ञान से शरीर स्थिर नहीं रहता और ज्ञान से शरीर बदलता भी नहीं है। जिसे ऐसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं है और यह मानते हैं कि यह शरीर मेरा, वह निःशंक मिथ्यादृष्टि है। चैतन्यस्वरूपी आत्मा मात्र चैतन्य से ही परिपूर्ण है, उसमें राग नहीं है, आहार नहीं है और देह नहीं है। जो ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूपी आत्मा की निःशंक श्रद्धा करता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

ज्ञानस्वरूपी आत्मा अमूर्तिक है, उसके मूर्तिक आहार त्रिकाल और तीन लोक में नहीं है। ऐसे अपने चैतन्यस्वरूप की रुचि करके उसकी श्रद्धा तथा ज्ञान करने से राग की रुचि, उसी प्रकार

पर की पकड़ छूट जाती है और स्वभाव के आश्रय से प्रतिक्षण ज्ञान की शुद्धता बढ़ती जाती है– उसका वर्णन इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में किया है।

(२८) भाई! स्वभाव से च्युत होकर तेरे उपयोग की उन्मुखता पर में होती है, तथापि तू परवस्तु का तो किंचित् भी ग्रहण -त्याग नहीं कर सकता, इसलिए अपने उपयोग को पर की ओर से मोड़कर चैतन्य स्वभाव में उन्मुख कर तो चैतन्य में एकाग्रता से तेरे ज्ञान की निर्मलता हो और एक समय में तेरे ज्ञान में तीनकाल और तीनलोक ज्ञेयरूप से आ जायें– अर्थात् ज्ञात हों।

(२९) जब नदी में भयंकर बाढ़ आती है और वह नहीं उतरती, तब कोई मनुष्य अपनी अँगूली काटकर उसके लोही से नदी की पूजा करते हैं। थोड़े समय के पश्चात् जब नदी उतर जाती है, तो ऐसा मानता है कि मैंने अपनी अँगूली काटकर नदी को चढ़ायी, इसलिए नदी उतर गई; यह तो बिलकुल स्थूल मिथ्यात्व है। अँगूली के एक रजकण का भी आत्मा ने ग्रहण नहीं किया है और उसका त्याग भी आत्मा नहीं कर सकता। अँगूली के अनन्त रजकणों की क्रिया स्वतन्त्र है और उसके कारण बाढ़ नहीं उतरी है। वह जीव पानी की एक-एक समय की क्रिया को अथवा अँगूली की प्रत्येक समय की क्रिया को तो जानता नहीं है, स्थूल ज्ञान से मात्र स्थूल वस्तु को देखने से ''यह मैंने किया'' – ऐसा अज्ञान से मानता है। आत्मा के आहार या देह ही नहीं है, तब देह की क्रिया अथवा देह द्वारा पर की क्रिया को तो आत्मा किस प्रकार करेगा? ज्ञान द्वारा अथवा राग द्वारा पर में तो जीव कुछ भी कर ही नहीं सकता। पर की जो-जो क्रियाएँ होती हैं, वे ज्ञान द्वारा या राग द्वारा नहीं होती परन्तु वे स्वतः पर के कारण होती हैं।

(३०) अहो! भगवान आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण है और सर्व पर से बिलकुल उपेक्षावाला है। अस्थिरता से परलक्ष्य होता है और रागादि होते हैं, उनको भी स्वभावदृष्टि के बल से उपेक्षा करनेवाला है। ऐसे आत्मा को देह के साथ एकमेक मानना, सो वास्तव में मिथ्यात्व है, और ऐसे मिथ्यात्वी जीव को व्रत, तप, प्रतिक्रमणादि की समस्त क्रियाओं को शास्त्र वास्तव में पाप ही कहते हैं, क्योंकि उसके अल्प गुण के साथ मिथ्यात्व का अनन्त पाप साथ ही बँधता है।

(३१) पर को दूर करूँ, पर का ग्रहणा करूँ अथवा पर को परिवर्तित कर दूँ – यह बात आत्मा के स्वभाव में नहीं है, और 'राग को टालना' यह भी पर्यायबुद्धि है, वास्तव में राग को टालना भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। राग को दूर करने की दृष्टि भी पर्यायदृष्टि है, पर्यायदृष्टि से राग दूर नहीं होता। अपने ज्ञान–उपयोग को अखण्ड चैतन्यस्वभाव में उन्मुख करके एकाग्रता करने से राग होता ही नहीं।

स्वोन्मुख कर! भाई! अपने चैतन्य उपयोग को आत्मोन्मुख कर! बाह्य में तू कुछ भी ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता, इसलिए अपने उपयोग को बाह्य में मत बढ़ा, अपने अन्तर स्वभाव में लाकर वहाँ एकाग्र हो, तो केवलज्ञान हो और तेरे संसार परिभ्रमण का अन्त आये।

जिसने ऐसे ज्ञानस्वभाव को माना और उसका आदर किया, उसने अनन्त तीर्थंकरों-सन्तों को माना है और उनका आदर किया है, उसी ने अपने आत्मा को माना है।

(३२) आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान किसका अवलम्बन लेते हैं? आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान किसी परवस्तु का, देव-गुरु-शास्त्र का अथवा रागादि का अवलम्बन नहीं करते, अपने आत्मद्रव्य का ही अवलम्बन करते हैं। आत्मद्रव्य अनन्तगुणों से अभेद है, उसमें अपने उपयोग को उन्मुख कर तो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान हों। यहाँ ज्ञान को देह की शंका नहीं करना अर्थात् ज्ञानस्वभाव में निःशंक होना– ऐसा आचार्यदेव ने आदेश किया है। आचार्यदेव स्वयं उपदेश के या लिखने के विकल्प में नहीं रुके हैं और सामनेवाले जीव को भी उपदेश सुनने के विकल्प में रुकने को नहीं कहते परन्तु स्वभावोन्मुख होने के कहते हैं – स्वभावोन्मुख होकर निःशंक होने को कहते हैं। महान् अद्भुत रचना है। अन्तिम गाथाओं में अद्भुत वर्णन है। ज्ञान की देह की शंका नहीं करना चाहिए और अस्थिरता से देह की ओर लक्ष्य जाने पर आहारादि का किंचित् राग हो जाये तो वहाँ से उपयोग हटाकर सम्पूर्णरूप से स्वरूप में स्थिर होने की भावना है। आहारादि का ग्रहण-त्याग आत्मा नहीं करता – इस प्रकार श्रद्धा की बात भी साथ ही साथ बतला दी है।

(33) (यहाँ टीका में 'ज्ञान' कहने से 'आत्मा' समझना चाहिए क्योंकि अभेद विवक्षा से लक्षण में ही लक्ष्य का व्यवहार किया जाता है, इस न्याय से टीकाकार आचार्यदेव आत्मा को ज्ञान ही कहते आये हैं।)

'ज्ञान' परद्रव्य का किंचित् भी ग्रहण या त्याग नहीं करता अर्थात् 'आत्मा' ही परद्रव्य का किंचित् ग्रहण-त्याग नहीं करता–ऐसा समझना चाहिए। ज्ञान के देह नहीं है–ऐसा कहने से आत्मा के ही देह नहीं है–ऐसा समझना चाहिए। अभेद विवक्षा से ज्ञान को आत्मा कहना, उसे यहाँ व्यवहार कहा है। परन्तु आत्मा ज्ञान द्वारा या राग द्वारा देहादि का कुछ कर सके–ऐसी मान्यता, सो व्यवहार नहीं किन्तु मिथ्यात्व है। यहाँ तो ज्ञानस्वभाव को ही आत्मा कहा है, इससे 'आत्मा में राग होता है' यह बात भी निकाल दी है। बाह्य की वस्तुओं का ग्रहण-त्याग आत्मा करे–ऐसा कहीं व्यवहार नहीं है। अधिक तो ज्ञान को आत्मा कहने का व्यवहार है, वहाँ भी अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेने का प्रयोजन है। परन्तु ज्ञान और आत्मा ऐसे भेद का अर्थात् व्यवहार का लक्ष्य छोड़ने

योग्य है; तब फिर राग को अथवा शरीरादि को आत्मा कहने की बात तो कहाँ रही?

पर के ग्रहण-त्याग की मान्यता छोड़कर, ऐसे ज्ञानस्वभाव को ग्रहण करने का पुरुषार्थ करके उपयोग को उसमें एकाग्र करने से एक समय में पूर्ण सबकुछ जान ले, वैसी परमात्मदशा प्रगट होती है, उसी की यह विधि कही गई है।

(३४) ''ज्ञानस्वरूप आत्मा-अमूर्तिक है और आहार तो कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है; इससे परमार्थ से आत्मा के पुद्गलमय आहार नहीं है। पुनश्च, आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्य को तो ग्रहण ही नहीं करता। स्वभावरूप परिणमन अथवा विभावरूप परिणमन, अपने ही परिणामों का ग्रहण-त्याग है, परद्रव्य का ग्रहण-त्याग तो किंचित् भी नहीं है। इस प्रकार आत्मा के आहार न होने से उसके देह ही नहीं है।''

ज्ञानस्वरूपी आत्मा अपने ज्ञान के द्वारा पर का ग्रहण नहीं कर सकता। पर के त्रिकाली द्रव्य को, उसके गुणों को अथवा उसकी प्रत्येक समय की पर्याय को छद्मस्थ जीव जान भी नहीं सकता तो वह पर का ग्रहण या त्याग कहाँ से करेगा? असंख्य समय के स्थूल ज्ञान से स्थूल पदार्थ ही ज्ञात होते हैं।

आत्मा या तो त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से परिणमित होकर पूर्ण निर्विकारदशारूप होता है और नहीं तो तो परवस्तु के ग्रहण-त्याग की मिथ्या मान्यता करके विकाररूप होता है; इसके अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ भी पर का ग्रहण-त्याग नहीं करता। ज्ञानी स्वभाव के आश्रय से परिणमित होकर निर्मल परिणाम का ग्रहण करता है और अज्ञानी पराश्रय से परिणमित होकर विकार परिणाम को ग्रहण करता है।

(३५) ज्ञानी निर्मल परिणाम को ग्रहण करता है– इसका क्या अर्थ हुआ? ज्ञानी भी अपने ज्ञान में एक-एक समय के निर्मल परिणाम को तो पकड़ नहीं सकता, परिणाम के ग्रहण पर उसका लक्ष्य नहीं है, परन्तु अपने अभेद स्वभाव की रुचि से द्रव्य में परिणाम की अभेदता करने से निर्मल परिणाम ही होते जाते हैं, इससे ज्ञानी को निर्मल परिणाम का ग्रहण कहा है; परन्तु एक-एक परिणाम पर ज्ञानी का लक्ष्य नहीं है। त्रिकाली द्रव्य पर ही लक्ष्य है। एक समय को पकड़ना चाहे तो भी त्रिकाली द्रव्य में ही अभेद होना आता है। त्रिकाली स्वभाव में अभेद हुए बिना ऐसा ज्ञानसामर्थ्य प्रगट नहीं होता जो एक समय को जान सके। एक परिणाम को पकड़ने जाते हुए उपयोग, स्वभाव में अभेद होकर केवलज्ञान होता है। इस प्रकार अपने द्रव्यस्वभाव की ओर उन्मुख होने से निर्मल परिणति होती जाती है और राग का त्याग हो जाता है। पूर्ण निर्मलता होने से

ज्ञान में एक-एक समय में समस्त पदार्थ ज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं। स्वभाव के लक्ष्य से निर्मल परिणाम का ग्रहण और विकारी परिणाम का त्याग हो जाता है, परन्तु परिणाम के ग्रहण-त्याग पर ज्ञानी का लक्ष्य नहीं है। परिणाम के ग्रहण-त्याग पर लक्ष्य जाने से तो राग का उत्थान होता है; परिणाम के लक्ष्य से एक-एक परिणाम ज्ञात नहीं होता। एक समय के सूक्ष्म परिणाम को पकड़ने जाते हुए त्रिकाली स्वभाव की रुचि के बल से उपयोग सूक्ष्म होकर, जिसमें से परिणाम प्रगट होता है– ऐसे परिणामी द्रव्य में अभेद होता है और केवलज्ञान होता है, वह ज्ञान, त्रिकाली द्रव्य को और एक-एक समय की पर्याय को जानता है।

पर का कुछ करने की मान्यतारूप मिथ्यात्वभाव का सेवन करे तो स्वभाव की रुचि छूट जाती है और मलिन परिणाम की उत्पत्ति होती है; इससे अज्ञानी के तो मलिन परिणाम का ग्रहण है। ज्ञानी को स्वभाव की रुचि होने से स्वद्रव्य में ही उपयोग की एकता होती है और प्रतिसमय निर्मल परिणाम उत्पन्न होता है, इससे ज्ञानी के निर्मल परिणाम का ग्रहण होता है और मलिन परिणाम का त्याग हो जाता है। इस प्रकार प्रति समय होता है, परन्तु ज्ञानी का ज्ञान उस समय-समय के निर्मल परिणाम को नहीं पकड़ सकता, समय-समय के सूक्ष्म परिणाम को ग्रहण करने जाने से त्रिकाली द्रव्य में उपयोग की एकाग्रता हो जाती है।

(३६) ज्ञान की पर्याय तो एक ही समय की है, वह पर्याय कहीं दो समय नहीं रहती; परन्तु उसका उपयोग असंख्य समय तक बढ़े– ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। केवली भगवान के तो पूर्ण ज्ञान होने से उनका ज्ञान प्रत्येक समय में ही सबकुछ जानता है। परन्तु छद्मस्थ को अल्पज्ञान होने से उसका उपयोग असंख्य समय तक बढ़कर कार्य करता है, वह असंख्य समय का उपयोग सूक्ष्म एक समय को नहीं पकड़ सकता। ज्ञान में एक समय कब पकड़ा जाता है? जब ज्ञान द्रव्यस्वभाव में लीन होकर पूर्ण परिणमित हो, तब वह एक समय को जानता है।

(३७) प्रत्येक जीव के ग्रहण-त्याग तो अपने परिणाम का ही होता है, पर का ग्रहण-त्याग कोई जीव कर ही नहीं सकता। अज्ञानी को वस्तुस्वभाव की खबर नहीं है, इससे वह पर का ग्रहण-त्याग करना मानता है, परन्तु उसके भी अपने परिणाम का ही ग्रहण-त्याग है, पर का किंचित् मात्र ग्रहण-त्याग उसके नहीं है; उसके अज्ञानभाव के कारण अपने शुद्धपरिणाम का त्याग और अशुद्ध परिणाम का ग्रहण है। ज्ञानी का अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा के बल से प्रतिसमय अपने शुद्ध परिणाम का ग्रहण और अशुद्ध परिणाम का त्याग है।

ज्ञानी को परिणाम के ग्रहण-त्याग करने का विकल्प नहीं है, उसके पर्यायदृष्टि ही नहीं है,

त्रिकाल द्रव्यदृष्टि से उसके परिणाम का ग्रहण-त्याग हो जाता है। यदि एक समय को देखने जाये तो पर्यायदृष्टि है और पर्यायदृष्टि, मिथ्यात्व है; इससे 'पर्याय का ग्रहण' ऐसा कहते ही ज्ञानी को त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की ओर उन्मुख होना बनता है। ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि रहने से प्रतिक्षण निर्मल पर्याय उत्पन्न हेती है और विकार नष्ट होता है, इससे ज्ञानी को उस-उस परिणाम का ग्रहण और त्याग कहा है, परन्तु पर्याय के ग्रहण-त्याग पर ज्ञानी की दृष्टि नहीं है।

(३८) द्रव्य में, गुण में और पर्याय में – तीनों में वस्तु की सत्ता है, वस्तु का वास्तु अर्थात् वस्तु का स्थान द्रव्य-गुण-पर्याय में है। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के बाहर वस्तु की कोई सत्ता नहीं है, इससे वस्तु पर में कुछ भी नहीं कर सकती। आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में आत्मा की प्रभुता है, परवस्तु में आत्मा की प्रभुता नहीं है। आत्मा में अपनी प्रभुता, सत्ता, अस्तित्त्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, ज्ञान, सुख, वीर्य इत्यादि अनन्तगुण हैं और उन गुणों का प्रतिसमय स्वतन्त्र परिणमन है। आत्म के अपने गुणों के परिणाम का ग्रहण-त्याग है, किन्तु आत्मा का कोई गुण या पर्याय बाह्य में नहीं है, इससे बाह्य वस्तु में कुछ भी ग्रहण-त्याग आत्मा नहीं कर सकता। आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमित हो अथवा विभावरूप परिणमित हो, स्वभाव की रुचिरूप परिणमित हो या पर की रुचिरूप परिणमित हो, परन्तु परवस्तु का ग्रहण या त्याग तो उसके किसी भी प्रकार नहीं है। स्वभावरूप परिणमित हो तो निर्मल परिणाम का ग्रहण करता है और विभावरूप परिणमित हो तो मलिन परिणाम को ग्रहण करता है, परन्तु ज्ञानस्वरूपी आत्मा के पर का ग्रहण-त्याग नहीं है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा को आहार का ग्रहण नहीं है, इसलिए ज्ञान के देह ही नहीं है। शरीर तो आहार से निर्मित होता है, कहीं आत्मा के ज्ञान में से शरीर का निर्माण नहीं होता। चैतन्य के आहार का ग्रहण नहीं है, इसलिए आहार द्वारा निर्मित शरीर भी जीव के नहीं है।

(३९) यहाँ तो आत्मा को त्रिकाल आहार रहित ही कहा है। अज्ञानी लोग केवली भगवान के भी कवलाहार का होना मानते हैं; परन्तु केवली के व्यवहार से भी आहार नहीं कहा जाता। क्योंकि केवली भगवान के ज्ञान पूर्ण परिणमित हो गया है, उनके व्यवहारनय ही नहीं रहा, इससे उनके आहार हो ही नहीं सकता। केवली को पर्याय को ओर उन्मुखता ही नहीं रही और शरीर की ओर का लक्ष्य भी नहीं है, इससे उनके आहार हो ही नहीं सकता। व्यवहारनय ही नहीं रहा, और शरीर पर से लक्ष्य हट गया, फिर उनके आहार कैसे होगा? अन्य रोगी जीवों के व्यवहार से आहार कहा जाता है, परन्तु केवली के तो व्यवहार भी नहीं है। परमार्थ से तो आहार किसी भी जीव के नहीं है।

पुनश्च, केवली भगवान को पूर्ण आत्मस्वभाव के आश्रय से परिणमित होने से प्रत्येक समय का सूक्ष्म उपयोग हो गया है, उनके आहार हो ही नहीं सकता। प्रत्येक समय का ज्ञान का उपयोग हो गया है और परमाणु के प्रत्येक समय के परिणमन को जानते हैं, उनके आहार नहीं होता। केवली को तो पूर्ण प्रमाणज्ञान हो गया है, उनके नय नहीं होते। साधक श्रुतज्ञानी के ही निश्चय–व्यवहारनय होते हैं। साधकजीव के निश्चय की मुख्यता से ही साधकत्व बना हुआ है। यदि एक समय भी व्यवहार की मुख्यता हो जाये तो साधकत्व स्थिर न रहे। व्यवहार की मुख्यता हो तो पर्यायदृष्टि हो जाये और मिथ्यात्व हो जाये। साधक का एक समय भी स्वभाव की एकता के बिना नहीं जाता; यदि एक समय भी स्वभाव की ओर की उन्मुखता हटकर पर्याय की ओर की उन्मुखता हो जाये तो मिथ्यात्व हो। साधक के स्वभाव की एकता से प्रति समय निर्मल परिणाम का ग्रहण होता है।

नव-तत्त्व

[पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

(१) भगवान ने प्रवचन में क्या कहा है?

यह प्रवचनसार की १९२ वीं गाथा है; इसमें सर्वप्रथम, प्रवचन का अर्थ क्या? ज्ञान, दर्शन सुखादि अनन्त गुणों के पिण्डस्वरूप आत्मा में अनादिकाल से अज्ञान, राग और द्वेष के कारण विकारी अवस्था है। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की यथार्थ पहचान और उसमें स्थिरता करके जिस आत्मा ने अज्ञान-राग-द्वेष का नाश किया और मुक्तदशा (जीवनमुक्तदशा) प्रगट की अर्थात् केवलज्ञान प्रगट किया; उसके पश्चात् उसके जो वाणी खिरी, उसमें जो तत्त्व का अर्थात् जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का निरूपण आया, उसे 'प्रवचन' कहते हैं। उस प्रवचन में क्या उपादेय

कहा है, वह बात चल रही है। उस प्रवचन में नवतत्त्वों का स्वरूप कहा है; उसमें से, ''ध्रुवत्व के कारण शुद्ध आत्मा ही उपलब्ध करने योग्य है''– ऐसा आचार्य भगवान उपदेश देते हैं। भगवान के श्रीमुख से दिव्यध्वनि में आत्मा का यथार्थ स्वरूप आया, उसका यहाँ कथन है। आत्मा स्वभाव से तो शुद्ध, ध्रुव, अविचल और नित्य है। राग-द्वेष के विकारी परिणाम उसका मूल स्वभाव नहीं हैं, इसलिए राग-द्वेषादि विकार से रहित इस आत्मा का अनुभव करने योग्य है।

(२) जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व

'इस आत्मा का' अर्थात् अपने का अनुभव करने योग्य हैं–ऐसा कहने से इस कथन में से नवतत्त्व प्रगट होते हैं। उसमें प्रथम आत्मपदार्थ का निर्णय होना चाहिए। आत्मा का अनुभव करने योग्य है, इस कथन से ऐसा सिद्ध होता है कि आज से पूर्व आत्मा का अनुभव नहीं था, और वर्तमान अनुभव प्रगट करके वह आगामी अनन्तकाल तक रहेगा। अनुभव प्रगट करके अपना नाश नहीं करता परन्तु स्वभाव के अनुभवरूप अनन्तकाल तक रहेगा। इस प्रकार आत्मा पूर्व में अज्ञानभाव में था और आगामी काल में स्वानुभव प्रगट करके स्थित रहेगा; इससे आत्मा अनादि-अनन्त है, वह नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है, और न उसका कभी विनाश होना है। त्रिकाल अस्तित्व रखनेवाला ऐसा आत्मा स्वभाव से तो पर के सम्बन्ध से रहित तथा राग-द्वेष विकार रहित, त्रिकाली शुद्ध,ध्रुव वस्तु है, परन्तु अवस्था में उसने अपने स्वभाव से विजातीय स्वभाववाले अजीवद्रव्यों पर अनादि से लक्ष्य किया है; इसलिए उसे अजीव–शरीर, वाणी और मन इत्यादि परद्रव्यों पर से लक्ष्य उठाकर ध्रुव चैतन्य वस्तु पर-त्रिकाली ध्रुव आत्मा परलक्ष्य करना कहा है। इससे निश्चित हुआ कि चेतना लक्षणवाला जीवद्रव्य है और चेतना लक्षणरहित शरीर, वाणी आदिरूप पुद्गलद्रव्य है। इस प्रकार एक जीवद्रव्य और दूसरा अजीवद्रव्य – ऐसे जीव-अजीव दो द्रव्य सिद्ध होते हैं, पुद्गल के अतिरिक्त चार अरूपी अजीव द्रव्य हैं, उनकी बात यहाँ मुख्य नहीं है।

(३) जीव की भूल और उसका निमित्त

यदि जीव और अजीव – ऐसे दो तत्त्व न हों तो जीव को मात्र अपने से अपने को जानने में भूल न हो – परन्तु अपने अस्तित्व से विरुद्ध स्वभाववाले अजीवद्रव्य के अस्तित्व में अपना अस्तित्व मानकर भूल रहा है। अपने स्वभाव का भान न होने से, मैं शरीर हूँ, मैं वाणी हूँ, मैं उनका कर्ता हूँ, (जड़-पदार्थों के संयोग में अनुकूलता प्रतिकूलता का मान्यता करके) मैं उनका भोक्ता – ऐसे अनेक प्रकार से अजीव में अपना अस्तित्व अज्ञान के कारण मानता आया है। इस प्रकार भूल में निमित्त (आत्मा से विरुद्धस्वभाववाला अजीवद्रव्य) भी जगत में है, उसके लक्ष्य से जीव अपने यथार्थ अस्तित्व से च्युत होकर पर में अपने अस्तित्व की मान्यतारूप भूल करता है।

(४) जीव और अजीव की संख्या

जिस प्रकार अपना आत्मा है, वैसे ही जगत में अन्य अनन्त आत्मा हैं; सब मिलकर एक आत्मा नहीं है और सर्व व्यापक एक आत्मा नहीं है; परन्तु स्वक्षेत्र व्यापक अथवा व्यवहार से वर्तमान शरीरप्रमाण प्रत्येक आत्मा पृथक्-पृथक् है। समस्त आत्मा जीवत्व की अपेक्षा से एक जाति है, परन्तु समस्त आत्मा मिलकर एक आत्मा नहीं है; सभी व्यक्तिगत पृथक्-पृथक् हैं। चैतन्यस्वभाववाले आत्मा से विरुद्ध जड़ पदार्थ (पुद्गल) भी अनन्त हैं। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से विपरीत स्वभाववाले जड़ पदार्थ न हों तो, (ज्ञाता-दृष्टा स्वभाववाला, वह आत्मा) ऐसे गुणों से आत्मा को पृथक् करना नहीं रहता। जगत् में अन्य जड़ पदार्थ हैं, जिनमें ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव नहीं है, उनसे जीव को अपने विशिष्ट गुणों से पृथक् किया जा सकता है; इससे जिनमें ऐसे गुण नहीं हैं– वैसे जड़ पदार्थ भी जगत में हैं।

(५) नवतत्त्व

पुनःश्च अनादि से 'जीव' का लक्ष्य अपने स्वभाव से विरुद्ध ऐसे शरीरादि 'जड़' पदार्थों में होने से उसके भूल और विकार है। वह विकार, आत्मा के विकृतस्वभाव की अपेक्षा से एक प्रकार का होने पर भी, मन्द और तीव्र–ऐसे विकार के दो पक्ष होते हैं; उन्हें 'पुण्य' और 'पाप' कहते हैं; दोनों पक्षों को अभेद करके एक प्रकार कहना हो तो उसे 'आस्रव' कहा जाता है। जीव उस विकार में रुकता है, विकार रहता है, इससे उसे 'बन्ध' कहा जाता है; उस भूल और राग-द्वेष विकार का रुकना अर्थात् आत्मा का यथार्थ भान करके स्वरूप स्थित होता, सो 'संवर' है। विकार का एकदेश कम होना अर्थात् स्वभाव शुद्धि का एकदेश बढ़ना, सो 'निर्जरा' है। विकार का अत्यन्त क्षय होना और स्वभाव का सर्वथा 'प्रगट' होना, सो 'मोक्ष' है। आत्मा में मुक्तदशा प्रगट होने पर विकार से सर्वथा पृथक्त्व होता है। जिसे भूल और विकार दूर करना है, उसे आत्मा की यथार्थ प्रतीति करके मुक्तदशा प्रगट करना चाहिए। जिसे मुक्तदशा अर्थात् आत्मा का सम्पूर्ण शुद्ध अनुभव करना है, उसे प्रथम जीव-अजीवादि नवतत्त्व बराबर समझकर आत्मा का यथार्थ निर्णय करना चाहिए। इस प्रकार जीव, अजीव के उपरान्त पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ऐसे कुल नवतत्त्व सिद्ध होते हैं। इस प्रकार नव पदार्थ सिद्ध न हो तो आत्मा को, विकार दूर होकर सुखी होने की मुक्तदशा करने की ध्वनि उत्पन्न नहीं होती।

(६) धर्म, अधर्म और उसका फल

आत्मा का त्रिकाली स्वभाव तो शुद्ध है। उपाधिरहित, आकुलतारहित है, परन्तु वर्तमान

दशा में सुख, शान्ति या धर्मरूप होता है; यदि वह सुख शान्ति वर्तमान पर्याय में प्रगट हो तो उसे प्रगट करना नहीं रहता। धर्म का स्वरूप ऐसा है कि जो वर्तमान में ही सुखशान्ति देता है; अधर्म भी वर्तमान में ही दुःख और अशान्ति देता है। धर्म इस समय करे और उसका फल भविष्य में आये– ऐसा धर्म का स्वरूप नहीं है; अधर्म वर्तमान में करे और उसके फलस्वरूप भविष्य में नरक में जाये– ऐसा नहीं है। धर्म-अधर्म का फल वर्तमान में ही अनाकुलता–शांति अथवा आकुलता-अशान्तिरूप है।

जब जीव ऐसा कहता है कि मुझे धर्म करना है – सुखी होना है – तब वह अपने को पर से पृथक् करता है कि मैं ज्ञाता-दृष्टा स्वभाववाला पदार्थ हूँ; इससे सिद्ध होता है कि उससे विरुद्ध स्वभाववाले जड़ पदार्थ भी जगत में विद्यमान हैं। (अपूर्ण)

आत्मा और कर्म का ज्ञान

आत्मा का आश्रय छोड़कर जो ज्ञान, कर्म को जानने में रुके, वह अचेतन है। कर्म के लक्ष्य से जो कर्म को जानने का विकास हुआ, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। कर्म मुझे आड़े आते हैं,– ऐसा जिसने माना है, उसका कर्म को जाननेवाला ज्ञान अचेतन है।

अज्ञानीजन कहते हैं कि पहले आत्मा का नहीं; किन्तु कर्म का ज्ञान करना चाहिए। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि कर्म के ज्ञान से धर्म का माप नहीं है। कर्म को जानने से धर्म नहीं होता। मन्दकषाय से कर्म के लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह भी मिथ्याश्रुतज्ञान है, इससे वह अचेतन है। कर्म को तथा उसके कहनेवाले केवली भगवान, गुरु तथा शास्त्र को माने, वहाँ तक भी मिथ्याश्रुत है, क्योंकि वह ज्ञान, पराश्रय से होता है; उस ज्ञान ने स्वभाव में एकता नहीं की है, परन्तु राग मे और पर में एकता की है। स्वभाव में एकता नहीं है किन्तु विकार में एकता है, इससे क्रमशः विकार की वृद्धि होकर वह ज्ञान अत्यन्त हीन होकर निगोददशा होगी; परन्तु वह ज्ञान आत्मा में एकता करके केवलज्ञान की ओर उन्मुख नहीं होगा। पूर्ण चैतन्यस्वभाव का आश्रय करके जो श्रुतज्ञान होता है, वह आत्मा में एकता करके क्रमशः बढ़कर केवलज्ञान प्रगट करता है।

आठों प्रकार के कर्म अचेतन हैं, और उस अचेतन के लक्ष्य से होनेवाला ज्ञान भी अचेतन है। आत्मा परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप है, उसके द्रव्य-गुण तो त्रिकाल स्वरूप हैं, परन्तु वर्तमान पर्याय में एक समयपर्यन्त का विकार है, उसमें कर्म निमित्तरूप है अर्थात् विकार का और कर्म का एक समयमात्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है– ऐसा जानना चाहिए। परन्तु यदि कर्म का लक्ष्य रखकर ही ऐसा जाने तो सम्यक्-श्रुतज्ञान नहीं होता अर्थात् धर्म नहीं होता। त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव, कर्म से और राग से पृथक् है, क्षणिक पर्याय जितना भी नहीं है – ऐसा जानकर उस स्वभाव के साथ एकता करने से जो ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान है। वह ज्ञान, कर्म को जानते समय अपने ज्ञानस्वभाव के साथ एकता रखकर जानता है।

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र